International Journal of Information Movement Vol.2 Issue III (July 2017)
Website: www.ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 97-99

जनसंचार की भाषा और साहित्यिक संस्कार

प्रमिला देवी
प्राध्यापिका
कन्या महाविद्यालय,
खरखौदा (सोनीपत)
E-mail: permila10478@gmail.com

साहित्य मानव हृदय से निकली हुई फुंकार से अन्य हृदय को भी झंकृत एवं हर्ष से भर देता है और पत्रकारिता इस प्रक्रिया में माध्यम का कार्य करती है । जिस प्रकार से साहित्य 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की भावना को लेकर चलता है, उसी प्रकार पत्रकारिता भी मानव कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही चलती है । साहित्य जीवन की एक सुंदर कलात्मक अभिव्यक्ति है तो पत्रकारिता भी एक कला है । कहते हैं यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो पत्रकारिता उस समाज की प्रतिकृति है । श्री मोट्रट साहित्य और पत्रकारिता के संबंध पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं– ''लिटरेचर इज द मिरर ऑफ लाईफ एण्ड जर्नलिज्म रिफ्लेक्ट इट''[1] अर्थात् साहित्य जीवन का दर्पण है और पत्रकारिता इसे रिफ्लेक्ट करती है । समाज से ही पत्र–पत्रिकाओं का निर्माण होता है और समाज के पोषण के लिए ही होता है । हिंदी साहित्य अति प्राचीन है किंतु आधुनिक हिंदी पत्रकारिता तो केवल कुछ दशक ही पुरानी है। आधुनिक युग में मानव पत्रकारिता ने बहुत ही बड़ा रोल निभाया है । पत्र–पत्रिकायें साहित्य में पोषित हैं और साहित्य का ही प्रचार प्रसार करती है । इसलिए कहते हैं, हिंदी साहित्य के विकास मे पत्र–पत्रिकाओं का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । इस दौर में हिंदी को लेकर फैली अराजकता पर मारिओला औफ्रेदी ने लिखा– ''पहले तो हिंदी में उर्दू के शब्द भरे होते थे, अब उसकी जगह अंग्रेजी लेती जा रही है । हिंदी का अंग्रेजीकरण मुझे लगता है कि एक प्रकार के दौर का नतीजा है, जो खत्म हो जाएगा । लेकिन भाषा जरूर बदलेगी । जीवन्त भाषा न तो बदलती रहती है और न उसे बदलते ही रहना चाहिए।''[2] यह इस युग की त्रासदी का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है जिस पकार इस दौर की प्रायः सभी पत्र–पत्रिकाओं में गहरा विमर्श दिखाई देता है । हिंदी के सवाल को लेकर उठी बहसों में प्रायः सभी विचारकों ने इसे सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न बनाया है और इस बात पर चिंता जताई है कि हम भाषा पर ध्यान देना भूल चुके हैं । भाषा का सवाल गहरा सांस्कृतिक सवाल है । जिसे जूझे बिना अपनी पहचान को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता । हिंदी को अपनी सुविधा के अनुसार ढालकर भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने पूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया को प्रभावित किया है । हिंदी के हितों की रक्षा का ध्येय लेकर चलती यह साहित्यिक पत्रकारिता हर हाल में राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ–साथ भाषा का प्रश्न भी उठाती है और पूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया को समर्थ बनाने की प्रस्तावना करती है । हिंदी को लेकर चली बहसों से तो यह स्पष्ट हो ही गया कि उसे लेकर पत्रकारिता कितनी गंभीर रही है। उसने

यह भी सुनिश्चित किया कि साहित्य में वैश्वीकरण से उपजी अप–संस्कृति का विरोध दर्ज हो । इसी समय पंकज सिंह के सम्पादन में 'सोच' नामक एक सांस्कृतिक वैचारिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ जिसने हिंदी के सांस्कृतिक समाज को बहुत उद्वेलित किया । भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप पैदा हुई समस्याओं पर विमर्श ीकरती इस पत्रिका ने हिंदी की वैचारिक शक्ति को मजबूती दी । 'भारतीयता' भी इस दौर की साहित्यिक पत्रकारिता के विमर्श का आकार बनती है । इस प्रश्न पर कि भारतीयता के संबंध में पश्चिमी और भारतीय धारणाओं में क्या बुनियादी भेद या मतभेद हैं ? विद्यानिवास मिश्र ने अपनी एक बातचीत में कहा– ''अंतर इसलिए नहीं है कि पश्चिम के लोग एक दूसरी संस्कृति में जीते हैं, उनका भूगोल अलग है या उनकी बुद्धि अलग है । अंतर या मतभेद इसलिए है कि अवधारणा करने वालों की नीयत कुछ अलग है । वह नीयत समझने की नहीं है । वह औपनिवेशिकता का प्रसार है, हावी होने के लिए । इसलिए वहां उनकी समझ का कोई विकल्प ही नहीं है । यदि है तो अनुकम्पनीय मात्र है । आदिम स्वभाव के लोग हैं, अविकसित है, इतना ही सोच पाते हैं । इसलिए जो सदाशय लोग है, वे औपनिवेशिक न भी हों, उद्धारक तो होंगे ही ।''[3]

आशय यह कि 'भारतीयता' का अपना एक विचार भारत का है जो अधिक से अधिक अपनी धरती, अपनी संस्कृति और अपने को जानने की ओर प्रेरित करना है । पर पश्चिम की नजर से जो औपनिवेशिक भारतीयता है, वह हर स्तर पर हमें झुठलाने और निरस्त करने वाली है । जिसका विरोध किया जाना चाहिए । असल में भूमण्डलीकरण का एक मजबूत माध्यम बनकर टेलीविजन ने जिस तरह हमारे घरों में पैंठ बनाई है और घरों को उत्पादकों के गोदाम बनाने की भूमिका निभाई है, उससे एक तरफ तो बाजार का सीधा हमला घर झेल रहा ह और अप–संस्कृति के कमरे से सांस्कृतिक संकट का प्रश्न अलग मुंह बाए खड़ा है । इस पर चिंता व्यक्त करते हुए पंकज बिष्ट ने लिखा–''आज यह बात किसी से छिपी नहीं है कि उपभोक्ताओं तक पहुँचने का टी.वी. कितना बड़ा माध्यम है । और भारत दुनियाँ का सबसे बड़ा बाजार है । वह दिन दूर नहीं जब स्टार चैनल भी दूरदर्शन की तरह विभिन्न भारतीय भाषाओं में अपने कार्यक्रम प्रसारित करना शुरू कर देगा और इसके साथ ही भारतीय संस्कृति और सोच को बदलने की प्रक्रिया अपनी चरम सीमा पर होगी।''[4]

साहित्यिक पत्रकारिता भूमण्डलीयकरण की समस्या से उपजे प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर विचार करती है । भाषा, संस्कृति, लोक–जीवन और सभ्यता के हर स्तर पर हमला बोल रही बाजारवादी संस्कृति मीडिया को अपना हथियार बनाकर जिस तरह सबको ग्रसने की ओर बढ़ रही है, वह एक बड़ी चिंता का विषय है । पर संतोष इस बात का है कि समाज के विचलन को समझती हुई पत्रकारिता हर स्तर पर सचेत करने को कटिबद्ध दिखाई देती है । इस वैश्विक आपदा पर जितनी गंभीरता से साहित्यिक पत्रकारिता ने अपना प्रतिरोध दर्ज कराया, उतना न तो किसी बड़े संगठन ने किया और न ही किसी दूसरे स्तर पर यह हो सका । इसका कितना असर पड़ा, यह सवाल है क्योंकि साहित्यिक पत्रिकाओं की

पहुँच जन–जन तक नहीं है । पर यह स्मृति में रखने की बात है कि ज्यादातर लोगों तक पहुँचते समाचार–पत्रों ने भी उपभोक्तावाद का जबरदस्त विरोध किया जिससे एक प्रतिरोध का वातावारण बन पाया । इस वातावरण से चाहे बहुत लाभ न हुआ हो, पर यह अवश्य हुआ कि एक सजगता पैदा हुई और लोगों की मानसिकता इस विकृति के विरूद्ध बनी । 'समकालीन सृजन' के मीडिया पर केन्द्रित अंक के सम्पादकीय में शम्भुनाथ ने लिखा था– ''आज के मीडिया के बारे में सबसे भयानक सच्चाई यह है कि यह पूरी तरह व्यापारियों के कब्जे में है । नए सूचना जनतंत्र के वास्तविक नागरिक कुछ ही जन हैं । मीडिया के प्रमुख रूप हैं – समाचार–पत्र, रेड़ियो, टी.वी. और दूरसंचार । इनमें टी.वी. और इंटरनेट जिस ढंग से अपना साम्राज्य बढ़ा रहे हैं, उसे बिना सैनिक भेजें पृथ्वी की सबस बड़ी फतह कहा जाना चाहिए।[5]

सारांश यह कि भूमण्डलीकरण के एक बड़े हथियार के रूप में संचारतंत्र के खौफनाक कारनामों को साहित्यिक पत्रकारिता से बहुत संजीदगी से उजागर किया । उससे पैदा हुई उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रतिरोध कर इसने एक सजगता का वातावरण बनाने का कार्य किया जो सही मायनों में एक बड़ा कार्य था ।

संदर्भ:

1– एन आउटलाइन सर्वे ऑफ जर्नलिज्म, पृ0 26

2– राष्ट्रीय सहारा, मन्थन, 21 मार्च, 2004

3– कला प्रयोजन, अंक–18, 19 पृ. 15

4– कथादेश, मई–जून, 1998, पृ. 4–5

5– समकालीन सृजन, 2000, पृ. 4